

सम्पादकीय

नियमसार : एक अनुशीलन

(गतांक से आगे...)

सातवें व आठवें छन्द इसप्रकार हैं -

(अनुष्टुभ्)

सर्वज्ञवीतरागस्य स्ववशस्यास्य योगिनः।

न कामपि भिदां क्वापि तां विद्मो हा जडा वयम् ॥२५३॥

एक एव सदा धन्यो जन्मन्यस्मिन्महामुनिः।

स्ववशः सर्वकर्मभ्यो बहिस्तिष्ठत्यनन्यधीः ॥२५४॥

(दोहा)

वीतराग सर्वज्ञ अर आत्मवशी गुरुदेव।

इनमें कुछ अन्तर नहीं हम जड़ माने भेद ॥२५३॥

स्ववश महामुनि अनन्यधी और न कोई अन्य।

सर्व कर्म से बाह्य जो एकमात्र वे धन्य ॥२५४॥

सर्वज्ञ-वीतरागी भगवान और इन स्ववश योगियों में कुछ भी अन्तर नहीं है; तथापि जड़ जैसे हम अरे रे इनमें भेद देखते हैं - इस बात का हमें खेद है।

इस जन्म (लोक) में एकमात्र स्ववश महामुनि ही धन्य है; जो निजात्मा में ही अनन्यबुद्धि रखते हैं; अन्य किसी में अनन्यबुद्धि नहीं रखते। इसीलिए वे सभी कर्मों से बाहर रहते हैं।

इन छन्दों के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“इसी नियमसार में पहले ऐसा कह आये हैं कि “जो स्ववश हैं, वह जीवनमुक्त हैं, जिनेश्वर देव से किंचित् न्यून हैं।” पर यहाँ तो निर्विकल्प अभेद में इस भेद को भी निकाल दिया है। स्वरूप में लीन निर्विकल्प-आनन्द में स्थित मुनि में और वीतरागी सर्वज्ञ परमात्मा में क्या अन्तर है? कुछ भी अन्तर नहीं है; फिर भी अरेरे! खेद है कि हम जड़ के समान होकर, विकल्पों में रुक कर उनमें और सर्वज्ञदेव में अन्तर देखते हैं।”

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता - यह नियम है और इस नियम की पूर्णता

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९५-९६

मुनिराजों के होती है। ऐसे स्ववश मुनि में और सर्वज्ञ परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है।

पहले तो सर्वज्ञ से किंचित् न्यून कहा था, पर यहाँ तो यह कहते हैं कि सातवें अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि में केवली से न्यूनपने का हमें जो विकल्प आता है, वह विकल्प हमारी जड़ता का सूचक है।^१

अहो! इस जन्म में जो नित्य सिद्ध समान कारणपरमात्मारूप निज चिदानन्द की प्रतीति और रमणता में वर्तता है, वह स्वाधीन है और जो विकल्प में वर्तता है, वह पराधीन है। निरन्तर स्ववश ज्ञानानन्द में लीन ऐसे महामुनि ही एक धन्य हैं। वे स्वरूपगुप्त अर्न्तमुख कारणपरमात्मा में अभेद होकर निर्विकल्प वीतराग परिणति में वर्तते हैं। निजात्मा के अतिरिक्त अन्य के प्रति लीन नहीं होते; इसलिए सर्वकर्मों से बाहर रहते हैं। सदा राग के कार्यों से बाहर और वीतरागी समतास्वरूप के अन्दर रहते हैं।^२”

इसप्रकार इन छन्दों में यही कहा गया है कि यद्यपि निश्चय परम आवश्यकों को धारण करनेवाले मुनिराजों और वीतरागी सर्वज्ञ भगवान में कुछ भी अन्तर नहीं है; तथापि हम उनमें अन्तर देखते हैं। हमारा यह प्रयास जड़बुद्धियों जैसा है; क्योंकि अपने में अपनापन रखने वाले, निश्चय परम आवश्यक धारण करनेवाले महामुनि ही धन्य हैं, महान हैं ॥२५३-२५४॥

नियमसार गाथा १४७

विगत गाथा में स्ववश सन्तों का स्वरूप स्पष्ट किया गया है और अब इस गाथा में स्ववश सन्त होने के उपाय पर विचार करते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

आवासं जह इच्छसि अप्पसहावेसु कुणदि थिरभावं ।

तेण दु सामण्णगुणं संपुण्णं होदि जीवस्स ॥१४७॥

(हरिगीत)

आवश्यकों की चाह हो थिर रहो आत्मस्वभाव में।

इस जीव के हो पूर्ण सामायिक इसी परिणाम से ॥१४७॥

हे सन्त ! यदि तुम अवश्य करने योग्य आवश्यक प्राप्त करना चाहते हो तो आत्मस्वभाव में स्थिरतारूप भाव करो; क्योंकि जो आत्मस्वभाव में स्थिर भाव करता है, उससे उसे सामायिक गुण पूर्ण होता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट

करते हैं -

“यह शुद्धनिश्चय आवश्यक की प्राप्ति के उपाय के स्वरूप का कथन है।

बाह्य षट् आवश्यक के प्रपंच (विस्तार) रूपी नदी की कल-कल ध्वनि के कोलाहल के श्रवण से पराङ्गमुख अर्थात् व्यवहार-आवश्यकों से विरक्त हे शिष्य ! यदि तू संसाररूपी लता (बेल) की जड़ को छेदने के लिए कुठार के समान शुद्ध निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप स्वात्माश्रित निश्चय आवश्यक चाहता है तो तू सकल विकल्पजाल से मुक्त निरंजन निज परमात्मा के सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र और सहजसुख आदि भावों में स्थिरभाव कर; क्योंकि इससे ही निश्चय सामायिक गुण उत्पन्न होता है। उसके होने पर मुमुक्षु जीव को बाह्य आवश्यक क्रियाओं से क्या लाभ है ? उनसे तो अनुपादेय (हेय) फल ही उत्पन्न होता है - ऐसा अर्थ है; क्योंकि इस जीव को अपुनर्भवरूपी, मुक्तिरूपी स्त्री के संभोग और हास्य प्राप्त करने में समर्थ निश्चय परमावश्यक से ही सामायिक चारित्र सम्पूर्ण होता है, पूर्णता से प्राप्त होता है।”

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा और इसकी टीका के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जगत में लोग देह की क्रिया एवं शुभविकल्पों से सामायिक मानते हैं, परन्तु वह वास्तविक सामायिक नहीं है। मिथ्यात्व रागादि रहित अन्तरस्वभाव में स्थिर होना, परमशांत अतीन्द्रिय आत्मसुख में लीन रहना ही सच्ची सामायिक है। सामायिक की पूर्णता में छह आवश्यक की पूर्णता हो जाती है।

यहाँ कहते हैं कि यदि तू षट्-आवश्यक की प्राप्ति करना चाहता है, तो **निर्मल आत्मस्वभाव में स्थिरतारूप निश्चयरत्नत्रय-वीतरागभाव प्रगट कर!** इससे सामायिक गुण सम्पूर्ण होता है। यही मुनिपना है, यही सामायिक है। बाह्यवेष, विकल्प अथवा मुनिपना सामायिक नहीं है।^१

मुनिराज सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजवीर्य, सहजचारित्र, सहज सुख, सहज छह कारकसामर्थ्यस्वभाव अनादि अनन्त पूर्णस्वभाववान कारणपरमात्मा में और उसके शुद्धस्वभाव में सतत् निश्चय स्थिरभाव/एकाग्रता करते हैं; जिससे उन्हें निश्चय सामायिक उत्पन्न होता है, तब फिर मुमुक्षु जीव को बाह्य शुभ विकल्परूप व्यवहार क्रियाओं से क्या मिला ? अर्थात् अनुपादेय-हेय/निंद्यफल ही उत्पन्न हुआ - ऐसा अर्थ है ?^२”

इस गाथा और उसकी टीका में ऐसे पात्र मुनिराजों को शिष्य के रूप में लिया गया है कि जो यथायोग्य व्यवहार आवश्यक होने पर भी उनसे पराङ्मुख हैं और निश्चय परम आवश्यक के अभिलाषी हैं। उनसे कहा जा रहा है कि आप विकल्पजाल से मुक्त होकर एकमात्र निज आत्मा का ही चिन्तन-मनन, ज्ञान-ध्यान करो; क्योंकि एकमात्र इससे ही परमावश्यकरूप सामायिक गुण पूर्ण होता है ॥१४७॥

इसके बाद 'तथा चोक्तं श्रीयोगीन्द्रदेवै - तथा श्री योगीन्द्रदेव ने भी कहा है' - ऐसा लिखकर टीकाकार मुनिराज एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है -

(मालिनी)

यदि चलति कथंचिन्मानसं स्वस्वरूपाद्

भ्रमति बहिरतस्ते सर्वदोषप्रसंगः ।

तदनवरतमंतर्मग्नसंविग्नचित्तो

भव भवसि भवान्तस्थायिधामाधिपस्त्वम् ॥६८॥^१

(सोरठा)

प्रगटें दोष अनंत, यदि मन भटके आत्म से ।

यदि चाहो भव अंत, मग्न रहो निज में सदा ॥६८॥

हे योगी ! यदि तेरा मन किसी कारण से निजस्वरूप से विचलित हो, भटके तो तुझे सर्वदोष का प्रसंग आता है। तात्पर्य यह है कि आत्म स्वरूप से भटकने से अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। इसलिए तू सदा अन्तर्मग्न और विरक्त चित्तवाला रह; जिससे तू मोक्षरूपी स्थायी धाम का अधिपति बनेगा, तुझे मुक्ति की प्राप्ति होगी।

इसप्रकार इस छन्द में यही कहते हैं कि आत्मस्वरूप से विचलित होने से, अपने में अपनापन न होने से अनन्त संसार के कारण मिथ्यात्वादि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं; अतः सभी आत्मार्थियों को अपने में अपनापन तो होना ही चाहिए, साथ में विरक्त चित्त भी रहना चाहिए ॥६८॥

इसके बाद एक छन्द टीकाकार मुनिराज स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(शार्दूलविक्रीडित)

यद्येवं चरणं निजात्मनियतं संसारदुःखापहं

मुक्तिश्रीललनासमुद्भवसुखस्योच्चैरिदं कारणम् ।

बुद्धवेत्थं समयस्य सारमनघं जानाति यः सर्वदा

सोयं त्यक्तबहिःक्रियो मुनिपतिः पापाटवीपावकः ॥२५५॥

(रोला)

अतिशय कारण मुक्ति सुन्दरी के सम सुख का ।

निज आत्म में नियत चरण भवदुःख का नाशक ॥

जो मुनिवर यह जान अनघ निज समयसार को ।

जाने वे मुनिनाथ पाप अटवी को पावक ॥२५५॥

यदि इस जीव को संसार के दुखों को नाश करनेवाला और अपने आत्मा में नियत चारित्र हो तो; वह चारित्र मुक्तिलक्ष्मीरूपी सुन्दरी के समागम से उत्पन्न होनेवाले सुख का उच्चस्तरीय कारण होता है।

ऐसा जानकर जो मुनिराज अनघ (निर्दोष) समयसार (शुद्धात्मा) को जानते हैं; उसमें ही जमते-रमते हैं; बाह्य क्रियाकाण्ड से मुक्त वे मुनिराज पापरूपी भयंकर जंगल को जलाने के लिए दावाग्नि के समान हैं।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यदि इस जीव को संसारदुःखनाशक निजात्माश्रित, एकाग्रतारूप वीतरागतामय निश्चयचारित्र हो, तो वह चारित्र मुक्तिलक्ष्मीरूपी परिणति से उत्पन्न सुख का अतिशयपने - विशेषपने कारण होता है; इसप्रकार जानकर जो मुनिश्रेष्ठ निर्दोष समय के सार को अर्थात् साक्षात् शुद्धचिद्रूप पूर्णानन्दस्वरूप को सम्पूर्णपने जानते हैं और जिन्होंने बाह्यक्रिया शुभाशुभकर्मचेतना छोड़ दी है - ऐसे मुनिराज ज्ञानानन्द की उग्र एकाग्रतारूप अग्नि द्वारा शुभाशुभभावरूपी अटवी को/जंगल को जलानेवाले हैं और अन्तरंग निर्मल शान्त ज्ञानानन्दस्वभाव में एकाग्रता/स्थिरता को भजते हैं/प्राप्त करते हैं। तात्पर्य यह है कि वहाँ शुभाशुभ संसाररूपी पाप उत्पन्न ही नहीं होते।”

इसप्रकार इस छन्द में यह कहा गया है कि आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाला चारित्र ही मुक्ति का कारण है। बाह्य क्रियाकाण्ड से विरक्त और इसमें अनुरक्त मुनिराज ही मिथ्यात्वादि को नाश करने वाले हैं ॥२५५॥

नियमसार गाथा १४८

विगत गाथा में शुद्ध निश्चय आवश्यक की प्राप्ति के उपाय का स्वरूप बताया गया है और अब इस गाथा में निश्चय आवश्यक करने की प्रेरणा दे रहे हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

आवासण हीणो पबभट्टो होदि चरणदो समणो ।

पुव्वुत्तकमेण पुणो तम्हा आवासयं कुज्जा ॥१४८॥

(हरिगीत)

जो श्रमण आवश्यक रहित चारित्र से अति भ्रष्ट वे ।

पूर्वोक्त क्रम से इसलिए तुम नित्य आवश्यक करो ॥१४८॥

आवश्यक से रहित श्रमण चारित्र से भ्रष्ट होते हैं; इसलिए पहले बताई गई विधि से आवश्यक अवश्य करना चाहिए ।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ शुद्धोपयोग के सन्मुख जीव को शिक्षा दी गई है ।

इस लोक में जब व्यवहारनय से भी समता, स्तुति, वन्दना, प्रत्याख्यान आदि षट् आवश्यकों से रहित श्रमण चारित्र से भ्रष्ट है - ऐसा कहा जाता है तो फिर शुद्ध निश्चयनय से परम-अध्यात्म भाषा में निर्विकल्प समाधिस्वरूप परम आवश्यक क्रिया से रहित निश्चयचारित्र से भ्रष्ट श्रमण तो चारित्र भ्रष्ट हैं ही - ऐसा अर्थ है ।

इसलिए हे मुनिवरो ! पहले कहे गये स्ववश परमजिन योगीश्वर के स्वात्माश्रित निश्चय धर्मध्यान व शुक्लध्यानरूप निश्चय परम आवश्यक को सदा अवश्य करो ।”

इस गाथा और उसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जिस क्रिया से मुक्ति प्राप्त हो, वह क्रिया आवश्यक क्रिया कहलाती है । देह की क्रिया, पुण्यरूप शुभराग की क्रिया, गुण-गुणी का भेद, द्रव्य-गुण पर्याय का चिन्तन यह आवश्यक क्रिया नहीं है ।

परवशता/पराधीनता रहित निर्विकल्प निश्चय ज्ञानानन्द स्वरूप में स्थिरता होना ही मोक्ष की आवश्यक क्रिया है ।

निर्मलस्वभाव की श्रद्धा और अरागी-तत्त्व में लीनतारूप आवश्यक रहित श्रमण आत्मा के चारित्र से अतिभ्रष्ट हैं । इसलिए सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक वीतरागी स्थिरतारूप आवश्यक करना चाहिए ।^१

इस कथन से यह भी समझ लेना चाहिए कि ज्ञानी गृहस्थ के भी आंशिकरूप से यह मोक्षमार्ग होता है, उनके भी निरन्तर निर्विकल्प शुद्धोपयोग में रहने की रुचि है । तथा सबसे पहले यही मुख्य है; इसके बीच आनेवाला राग तो अत्यन्त गौण है ।^२”

इस गाथा और उसकी टीका में यह कहा गया है कि जब लोक में व्यवहार

आवश्यकों से भ्रष्ट सन्तों को भ्रष्ट कहा जाता है तो फिर निश्चय आवश्यकों से भ्रष्ट तो भ्रष्ट हैं ही । कदाचित् कोई व्यवहार आवश्यक बाह्य रूप में सही भी पालता हो; किन्तु निश्चय परम आवश्यक से रहित है तो वह भी भ्रष्ट ही है ॥१४८॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव स्वयं दो छन्द लिखते हैं; जिनमें प्रथम छन्द इसप्रकार है -

(मंदाक्रांता)

आत्मावश्यं सहजपरमावश्यकं चैकमेकं

कुर्यादुच्चैरघकुलहरं निर्वृतेर्मूलभूतम् ।

सोऽयं नित्यं स्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः

वाचां दूरं किमपि सहजं शाश्वतं शं प्रयाति ॥२५६॥

(दोहा)

आवश्यक प्रतिदिन करो अघ नाशक शिव मूल ।

वचन अगोचर सुख मिले जीवन में भरपूर ॥२५६॥

प्रत्येक आत्मा को अघ समूह के नाशक और मुक्ति के मूल एक सहज परम-आवश्यक को अवश्य करना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से निजरस के विस्तार से पूर्ण भरा होने से पवित्र एवं सनातन आत्मा, वचन-अगोचर सहज शाश्वत सुख को प्राप्त करता है ।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“पर से निरपेक्ष शुद्ध-आत्मा में एकाग्र होना आवश्यक कर्म है । चैतन्य को भूलकर पुण्य-पाप के वश होना, वह पराधीनता है । चैतन्य के अलावा किसी भी पर के वश/आधीन नहीं होना - इसका नाम अवशपना है । - इसप्रकार नास्ति से समझाया है । वास्तव में तो चिदानन्द स्वभाव में स्थिर रहना ही स्ववशपना/अवशपना है और यह जरूरी/मुख्य कर्तव्य है ।^१

पर्याय-अपेक्षा शुद्धरत्नत्रय की आवश्यक क्रिया ही मोक्ष का मूल है और द्रव्य-अपेक्षा शुद्ध कारणपरमात्मा ही मुक्ति का मूल है । - ऐसे सहज परम आवश्यक को/एक को अतिशयपने सदा करना चाहिये ।^२”

इसप्रकार इस छन्द में यह कहा गया है कि यदि वचनातीत शाश्वत मुक्तिसुख की प्राप्ति करनी है तो इस निश्चय आवश्यक को अवश्य धारण करना चाहिए ॥२५६॥

(अनुष्टुभ्)

स्ववशस्य मुनीन्द्रस्य स्वात्मचिन्तनमुत्तमम् ।

इदं चावश्यकं कर्म स्यान्मूलं मुक्तिशर्मणः ॥२५७॥

(दोहा)

निज आत्म का चिन्तवन स्ववश साधु के होय ।

इस आवश्यक कर्म से उनको शिवसुख होय ॥२५७॥

स्ववश मुनिराजों के उत्तम स्वात्मचिन्तन होता है और इस आत्म चिन्तनरूप आवश्यक कर्म से उन्हें मुक्तिसुख की प्राप्ति होती है ।

इस छन्द में स्वात्मचिन्तनरूप निश्चय आवश्यक को जीवन में निरंतर बनाये रखने की परम पावन प्रेरणा दी गई है ॥२५७॥

नियमसार गाथा १४९

विगत गाथा में तो यह कहा था कि आवश्यक से रहित श्रमण चारित्र भ्रष्ट है; पर इस गाथा में तो यह कहा जा रहा है कि आवश्यक से रहित श्रमण बहिरात्मा है । गाथा मूलतः इसप्रकार है -

आवासण जुत्तो समणो सो होदि अंतरंगप्पा ।

आवासयपरिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा ॥१४९॥

(हरिगीत)

श्रमण आवश्यक सहित हैं शुद्ध अन्तर-आत्मा ।

श्रमण आवश्यक रहित बहिरात्मा हैं जान लो ॥१४९॥

आवश्यक सहित श्रमण अन्तरात्मा है और आवश्यक रहित श्रमण बहिरात्मा है ।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ ऐसा कहा है कि आवश्यक कर्म के अभाव में तपोधन बहिरात्मा होता है ।

अभेद-अनुपचार रत्नत्रयस्वरूप स्वात्मानुष्ठान में नियत परमावश्यक कर्म से निरंतर संयुक्त स्ववश नामक परम श्रमण सर्वोत्कृष्ट अन्तरात्मा है । यह महात्मा सोलह कषायों के अभाव हो जाने से क्षीणमोह पदवी को प्राप्त करके स्थित है । असंयत सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा है और इन दोनों के मध्य में स्थित सभी मध्यम अन्तरात्मा हैं ।

निश्चय और व्यवहार - इन दो नयों से प्रतिपादित परमावश्यक क्रिया से रहित

बहिरात्मा हैं ।

तात्पर्य यह है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जघन्य अन्तरात्मा, बारहवें गुणस्थानवर्ती उत्कृष्ट अन्तरात्मा और इन के बीच रहनेवाले पंचम गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक के सभी जीव मध्यम अन्तरात्मा हैं तथा प्रथम, द्वितीय व तृतीय गुणस्थानवाले बहिरात्मा हैं ।”

उक्त गाथा और उसकी टीका का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ तो कहते हैं कि सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की व्यवहार श्रद्धा आदि से अर्थात् व्यवहार रत्नत्रय से भी संसार का अभाव नहीं होता; परन्तु अपने शुद्धात्मा की श्रद्धा-ज्ञान-लीनता द्वारा ही संसार का अभाव होता है । इसलिए वही एक आवश्यक कर्म है । जिसे ऐसा आवश्यक कर्म होता है, वही अन्तरात्मा है । इसके अलावा भले जंगल में जाकर बैठ जाये और अपने को बड़ा ध्यानी-तपस्वी माने, तो भी वह अन्तरात्मा नहीं है अर्थात् जिसे शुद्धात्मा की भी श्रद्धा नहीं है, वह तो बहिरात्मा है ।”

अन्तर में जो पूर्ण ताकत भरी है, वह अन्तर में एकाग्रता के द्वारा ही प्रगट होती है । यदि कोई इसके विपरीत बाहर में आश्रय करने से कल्याण हो जायेगा - ऐसा कहता हो, मानता हो तो वह तो कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र के समान ही है । जो उसकी प्रतीति करता है, उसे आवश्यक कर्म नहीं होता ।”

जिन्हें सम्यग्दर्शन सहित वीतरागचारित्र में परिपूर्ण लीनता है, उन्हें सर्वोत्कृष्ट अन्तरात्मा कहते हैं । ऐसे अन्तरात्मा महामुनिराज १६ कषायों के अभाव द्वारा क्षीणमोह पदवी को प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त करनेवाले हैं ।

जघन्य अन्तरात्मा असंयत सम्यग्दृष्टि हैं । ‘अशरीरी सिद्ध भगवान के समान मैं सर्वप्रकार से पूर्णशुद्ध आत्मा/नित्यस्वरूपप्रत्यक्ष कारणपरमात्मा हूँ ।’ असंयत सम्यग्दृष्टि को ऐसा पूर्णस्वरूप आत्मा का भान है, उसके क्षणिक शुभाशुभभावों के स्वामित्वरहित/मिथ्यात्वरहित यथार्थभान वर्तता है; अखण्ड ज्ञातापने का ज्ञान, प्रतीति और आंशिक लीनता होने पर भी अभी असंयत अवस्था है । अतः वह अविरत सम्यग्दृष्टि गृहस्थ कहलाता है ।

अविरतसम्यग्दृष्टि की अपेक्षा अन्दर में विशेष लीनता बढ़ने पर पंचम गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक के सभी जीव मध्यम अन्तरात्मा हैं ।

जो जीव सर्वज्ञकथित निश्चय-व्यवहार दोनों नयों से प्ररूपित परम-आवश्यक

क्रिया से रहित है, वह बहिरात्मा है - मिथ्यादृष्टि है।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु, नवतत्त्व हेय-उपादेय आदि प्रयोजनभूत बातों का जैसा निरूपण सर्वज्ञ के मार्ग में किया गया है, उनकी वैसी प्रतीति हुए बिना व्यवहार आवश्यक/समाधि/ध्यान कुछ भी नहीं होता।

सच्चे देवादि की प्रतीति, सत्यार्थप्रकाशक आगम का यथार्थ ज्ञान और व्यवहार संयम - यह व्यवहार आवश्यक है और बुद्धिपूर्वक होनेवाले विकल्प से छूटकर अन्दर अकेले चिदानंदस्वभाव में निर्विकल्प परिणति निश्चय आवश्यक है।^१”

उक्त सम्पूर्ण कथन से तो यही प्रतिफलित होता है कि यह निश्चय परम आवश्यक अर्थात् स्ववशपना मात्र मुनिराजों के ही नहीं होता; अपितु चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर १२वें गुणस्थानवर्ती क्षीणमोही भावलिंगी सन्तों तक सभी को अपनी-अपनी भूमिकानुसार होता है; क्योंकि ये सभी अन्तरात्मा हैं ॥१४९॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज 'उक्तं च मार्गप्रकाशे - मार्गप्रकाश नामक ग्रन्थ में भी कहा है' - ऐसा कहकर दो अनुष्टुप् छन्द उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार हैं -

(अनुष्टुभ्)

बहिरात्मान्तरात्मेति स्यादन्यसमयो द्विधा।

बहिरात्मानयोर्देहकरणाद्युदितात्मधीः ॥६९॥^२

जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदादविरतः सुहृक्।

प्रथमः क्षीणमोहोन्त्यो मध्यमोमध्यस्तयोः ॥७०॥^३

(रोला)

परमात्म से भिन्न सभी जिय बहिरात्म अर।

अन्तर आत्मरूप कहे हैं दो प्रकार के॥

देह और आत्म में धारे अहंबुद्धि जो।

वे बहिरात्म जीव कहे हैं जिन आगम में ॥६९॥

अन्तरात्मा उत्तम मध्यम जघन कहे हैं।

क्षीणमोह जिय उत्तम अन्तर आत्म ही है ॥

अविरत सम्यग्दृष्टि जीव सब जघन कहे हैं।

इन दोनों के बीच सभी मध्यम ही जानो ॥७०॥

अन्य समय अर्थात् परमात्मा को छोड़कर बहिरात्मा और अन्तरात्मा - इसप्रकार जीव दो प्रकार के हैं। उनमें शरीर और आत्मा में आत्मबुद्धि धारण करनेवाला, अपनापन स्थापित करनेवाला बहिरात्मा है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९३

२. मार्गप्रकाश ग्रंथ में उद्धृत श्लोक

३. वही

जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से अन्तरात्मा तीन प्रकार के हैं। उनमें अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा हैं और क्षीणमोही उत्कृष्ट अन्तरात्मा हैं और इनके मध्य में स्थित मध्यम अन्तरात्मा हैं।

उक्त छन्दों का भाव एकदम स्पष्ट और सहज सरल है; अतः उक्त संदर्भ में कुछ कहना अभीष्ट नहीं है ॥६९-७०॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(मंदाक्रांता)

योगी नित्यं सहजपरमावश्यकर्मप्रयुक्तः

संसारोत्थप्रबलसुखदुःखाटवीदूरवर्ती।

तस्मात्सोऽयं भवति नितरामन्तरात्मात्मनिष्ठः

स्वात्मभ्रष्टो भवति बहिरात्मा बहिस्तत्त्वनिष्ठः ॥२५८॥

(रोला)

योगी सदा परम आवश्यक कर्म युक्त हो।

भव सुख दुख अटवी से सदा दूर रहता है ॥

इसीलिए वह आत्मनिष्ठ अन्तर आत्म है।

स्वात्मतत्त्व से भ्रष्ट आत्मा बहिरात्म है ॥२५८॥

योगी सदा सहज परमावश्यक कर्म से युक्त रहता हुआ संसारजनित सुख-दुखरूपी अटवी (भयंकर जंगल) से दूरवर्ती होता है। इसलिए वह योगी अत्यन्त आत्मनिष्ठ अन्तरात्मा है। जो स्वात्मा से भ्रष्ट है, वह बाह्य पदार्थों में अपनापन करनेवाला बहिरात्मा है।

उक्त छन्द का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस प्रकार स्पष्ट करते हैं -

“सर्वज्ञ वीतराग भगवान के मार्ग में निश्चय-व्यवहार में प्रवीण निश्चय स्वभावश्रित अकेले अन्तरंग ज्ञायकस्वभाव में जो वीतरागी दृष्टि एवं वीतरागी स्थिरता करता है, वह योगी है। यह योगी सदा सहज परमावश्यकरूप स्वाधीन समतारूपी कर्म से जुड़ा हुआ है, अन्य किसी भी प्रकार के राग में नहीं जुड़ा है। वह योगी निश्चय रत्नत्रय में वर्तता हुआ संसारजनित प्रबल सुख-दुःखरूपी अटवी से बहुत दूर रहता है। इसलिए वह योगी अत्यन्त आत्मनिष्ठ अन्तरात्मा है।^१

पराश्रय से धर्म होता है, गुरु की कृपा से कल्याण होता है, द्रव्य-क्षेत्र काल-

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९४

भाव के अच्छे समागम से कल्याण होता है - जो ऐसा मानता है, वह बाह्यतत्त्व में लीन मिथ्यादृष्टि है, आत्मा से भ्रष्ट है और बाह्य में देह-राग तथा पुण्यासुररूप बाह्यतत्त्व में लीन होने से मूढ़ है।

जो अपनी अन्तरंगशक्ति से अपने परिपूर्ण तत्त्व को न मानकर किसी बाह्य अवलम्बन से अथवा शुभभाव व शुभक्रिया से लाभ मानता है, वह अन्तरंगतत्त्व को नहीं जानता।^१”

इसप्रकार इस छन्द में कहा गया है कि आत्मनिष्ठ योगी ही सच्चे योगी हैं, स्ववश सन्त हैं, निश्चय आवश्यक के धारी हैं। जो जीव स्वात्मा से भ्रष्ट हैं, वे बहिरात्मा हैं। तात्पर्य यह है कि अपने आत्मा में अपनापन स्थापित करके, उसे ही निजरूप जानकर, जो योगी स्वयं में ही समा जाता है, वही सच्चा योगी है। जगतप्रपंचों में उलझे लोग स्ववश योगी नहीं हो सकते ॥२५८॥

नियमसार गाथा १५०

विगत गाथा में बहिरात्मा और अन्तरात्मा का स्वरूप कहा है। अब इस गाथा में उसके ही स्वरूप को विशेष स्पष्ट करते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

अंतरबाहिरजप्ये जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्या।

जप्येसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्या ॥१५०॥

(हरिगीत)

जो रहे अन्तरबाह्य जल्पों में वही बहिरात्मा।

पर न रहे जो जल्प में है वही अन्तर आत्मा ॥१५०॥

जो जिनलिंगधारी संत अन्तर्बाह्य जल्प में वर्तता है; वह बहिरात्मा है और जो जल्पों में नहीं वर्तता है; वह अन्तरात्मा कहलाता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह बाह्य और अन्तरजल्प का निराकरण है।

जो जिनलिंगधारी तपोधनाभास पुण्य कर्म की वांछा से स्वाध्याय, प्रत्याख्यान और स्तवन आदि बहिर्जल्प करता है और अशन (भोजन) शयन (सोना) गमन (चलना) और स्थिति (स्थिर रहना-ठहरना) आदि में सत्कार आदि की प्राप्ति का लोभी वर्तता हुआ अन्तर्जल्प में मन को लगाता है; वह जीव बहिरात्मा है।

निज आत्मा के ध्यान में परायण रहता हुआ सम्पूर्णतः अन्तर्मुख रहकर जो तपोधन प्रशस्त व अप्रशस्त समस्त विकल्प जालों में कभी भी नहीं वर्तता; वह परमतपोधन साक्षात् अन्तरात्मा है।^१”

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी उक्त गाथा और उसकी टीका का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“बहिरात्मा को तो निरन्तर बाह्य बातों की निंदा-स्तुति, अनुकूलता प्रतिकूलता की ही चिन्ता रहती है। वह उससे भिन्न अन्दर में विराजमान निज चिदानन्दस्वरूप में रुचि करने का प्रयास ही नहीं करता, इसके लिए उसे फुर्सत ही नहीं मिलती। इसलिए पुण्य की अभिलाषा से ही स्वाध्याय, प्रत्याख्यान, स्तवन आदि बहिर्जल्प करता है। विकल्प तथा वाणी का कर्ता होकर पुण्य की रुचि और भावना में वर्तता है।

इसीप्रकार वह अशन, गमन, स्थिति आदि में सत्कार/सम्मान आदि का लोभी होता हुआ उसके राग में ही अटका रहता है। अपने उपयोग को कभी भी असंग निर्विकल्प ज्ञानमात्र में नहीं जोड़ता, अतः बहिरात्मा है।^१

जो सम्पूर्णपने निजात्मा में अन्तर्मुख होकर शुभाशुभ भावों के विकल्पजाल में थोड़ा भी नहीं वर्तता, वह मुनि साक्षात् अन्तरात्मा है।^२”

गाथा में तो सीधी, सरल व सहज बात कही है कि जो अन्तर्बाह्य जल्पों में वर्तता है, वह बहिरात्मा है और जो इनसे अलिप्त है, वह अन्तरात्मा है; पर टीका में अन्तर्बाह्य विकल्पों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए पुण्यकर्म की वांछा से स्वाध्याय, प्रत्याख्यान और स्तवनादि करने को बहिर्जल्प तथा भोजन, सोना, चलना और ठहरने आदि की प्राप्ति का लोभी होकर प्रवर्तने को अन्तर्जल्प कहा है।

लगता है कि वचनात्मक प्रवृत्ति को बहिर्जल्प और मानसिक चिन्तन को अन्तर्जल्प कहना चाहते हैं ॥१५०॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज ‘तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः - तथा अमृतचन्द्र आचार्यदेव ने कहा है’ - ऐसा लिखकर एक छन्द उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार है -

(वसंततिलका)

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-

मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम्।

अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं

स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥७१॥^३

(हरिगीत)

उठ रहा जिसमें अनन्ते विकल्पों का जाल है।
वह वृहद् नयपक्षकक्षा विकट है विकराल है॥
उल्लंघन कर उसे बुध अनुभूतिमय निजभाव को।
हो प्राप्त अन्तर्बाह्य से समरसी एक स्वभाव को॥७१॥

इसप्रकार जिसमें बहुत से विकल्पों का जाल अपने आप उठ रहा है - ऐसी महती नय-पक्षकक्षा का उल्लंघन करके ज्ञानी जीव अन्तर्बाह्य से समतारस स्वभाववाले अनुभूतिमात्र अपने भाव को प्राप्त करते हैं।

ज्यों-ज्यों नयों के विस्तार में जाते हैं, त्यों-त्यों मन के विकल्प भी विस्तार को प्राप्त होते हैं, चंचलचित्त लोकालोक तक उछलने लगता है। ज्ञानी जीव इसप्रकार के नयों के पक्ष को छोड़कर, समरसी भाव को प्राप्त होकर, आत्मा के एकत्व में अटल होकर, महामोह का नाश कर, शुद्ध अनुभव के अभ्यास से निजात्मबल प्रगट करके पूर्णानन्द में लीन हो जाते हैं।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि नयविकल्पों के विस्तार से उपयोग समेट कर जब आत्मा स्वभावसन्मुख होकर, निर्विकल्पज्ञान रूप परिणमित होता है; तभी अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करता है॥७१॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज तथाहि लिखकर एक छन्द स्वयं भी लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(मंदाक्रांता)

मुक्त्वा जल्पं भवभयकरं बाह्यमाभ्यन्तरं च
स्मृत्वा नित्यं समरसमयं चिच्चमत्कारमेकम् ।
ज्ञानज्योतिःप्रकटितनिजाभ्यन्तरांगान्तरात्मा
क्षीणे मोहे किमपि परमं तत्त्वमन्तर्ददर्श ॥२५९॥

(हरिगीत)

संसारभयकर बाह्य-अंतरजल्प तज समरसमयी।
चित्चमत्कारी एक आतम को सदा स्मरण कर॥
ज्ञानज्योति से अरे निज आतमा प्रगटित किया।
वह क्षीणमोही जीव देखे परमतत्त्व विशेषतः॥२५९॥

भवभय करनेवाले बाह्य और अभ्यन्तर जल्प को छोड़कर समतारसमय एक चैतन्य चमत्कार का सदा स्मरण करके ज्ञानज्योति द्वारा जिसने निज अभ्यन्तर अंग प्रगट किया है - ऐसा वह अन्तरात्मा मोह क्षीण होने पर किसी अद्भुत परमतत्त्व को अन्तर में देखता है।

(शेष पृष्ठ ३४ पर)